पंचम अध्याय

गुप्तजी के काव्य में चित्रित धार्मिक जीवन

गुप्तजी के काव्य में चित्रित धार्मिक जीवन

"धारयते इति धर्मः"। धर्म का अर्थ है धारण करने वाला अर्थात् [illegible] जीवन को सम्यक् रूप से यापन करने के लिए जिस विधान की आवश्यकता है वह धर्म (नीति) है। हमारे यहाँ धर्म के दस अंग माने गए हैं, वे लगभग सभी किसी न किसी रूप में सर्वत्र मान्य हैं।"[1] साकेत में धर्म के सभी अंग मिलते हैं। राम अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति के हैं। अतः धर्मके सभी अंग उनमें मूर्तिमन्त हो उठे हैं।

धर्म का सम्बन्ध जो लोग सम्प्रदाय अथवा वाह्याडम्बर के साथ जोड़ते हैं वे विभ्रान्त हैं। धर्म अन्तश्चेतना का प्रेरक है। इसमें मनुष्य की मनुष्यता को अभ्युदय के चरम शिखर पर ले जाने की क्षमता रहती है। जीवन धारण करने के लिएउसे पुष्ट, सबल तथा युगानुरूप बनाने के लिए उससे अधिक उपादेय और कोई वस्तु नहीं। धर्म की भावना से ही प्रेरित होकर मनुष्य उस बात के लिए आवश्वस्त एवं आस्थावान हो जाता है कि वह अपरिमेय शक्ति का पुंजीभूत रूप है। उसकी चेतना का प्रवाह अप्रतिहत है और वह यथाभिलषित कार्य का संपादक है। यह मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि के रूप में स्वीकार्य है। उसे मानव के आत्म स्वातंत्र्य की मूलभूत अभिव्यक्ति मानते हैं। सत्य, जिज्ञासा, कर्म-सौन्दर्य और आत्मा के स्वातंत्र्य के भीतर वह सब कुछ आ जाता है, जिसे भारतीय परम्परा में धर्म की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। समान्यतः धर्माचरण में इनका समावेश किया जाता है:- सत्कर्म-अनुष्ठानार्थ गुण विशेष, सुकृत, शुभादृष्ट, पुण्य, शास्त्र के अनुसार आचार, व्यवहार, वेदविहित, अनुष्ठान, रीति, आचार, कर्तव्य, भाव, देश-विदेश के अनुसार अथवा जाति-विशेष का परलोक· अलौकिक पदार्थ विषयक विश्वास एवं उपासना प्रणाली, उचित कर्म, षड्विध पुण्य कर्म (योग्यपात्र को दान देना, माता-पिता की सेवा, श्रद्धा, बलि, गौ को आहार देना आदि)

1- डा० नगेन्द्र - साकेत ; एक अध्ययन ; प्रथम संस्करण ; सन् 1960 ; पृष्ठ - 127

मनुस्मृति के आधार पर धर्म के मुख्य दस अंग हैं:-

ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, दान, नियम, क्षमा, शुचिता, अहिंसा, शान्ति और अस्तेय (चोरी न करना) :-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः,
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।

काव्यपुरुष्टा और उसकी कृति उस समाज और संस्कृति से अभिन्न रूप में सम्बन्धित होते हैं, जिसमें उनका जन्म होता है। इसलिए काव्य अथवा साहित्य के द्वारा हम युग-चेतना तथा संस्कृति के मूल में अवस्थित उस तत्व तक पहुँचने का उपक्रम करते हैं, जिसे धर्म कहा जाता है। कोई भी काव्य निरपेक्षतः विशुद्ध काव्य नहीं होता, क्योंकि उसमें लक्षित एवं अलक्षित रूप से समाज और धर्म के प्रति कवि का दृष्टिकोण सम्पृक्त रहता है। इनका अस्वीकार भी एक दृष्टिकोण ही कहा जाएगा। इसीलिए पलायन का साहित्य भी समाज-निरपेक्ष वस्तु नहीं है। श्रेष्ठ कवि व्यापक जीवन-भूमिका के कवि होते हैं। और वे अपने काव्य में धर्म, दर्शन, नीति, राजनीति अथवा समाजनीति को आत्मसात करते हुए चलते हैं। वे मानव-चेतना को समग्रता में ग्रहण करते हैं, क्योंकि न मानव-जीवन को खंडों में बाँटा जा सकता है और न मानव-चेतना को ही। मैथिलीशरण गुप्त जैसे महाकवियों के लिए यह बात और भी लागू होती है, क्योंकि वे सार्वभौम चेतना और व्यापक मानवता के कवि हैं। गुप्तजी ने अपनी रचनाओं में जिस दार्शनिक मत की पुष्टि की है उसके अतिरिक्त ध्यान देने की बात यह भी है कि स्वयं युग-पुरुष कवि होते हुए भी उन्होंने किस प्रकार हिन्दी साहित्य परम्परा तथा धर्म के साथ औतिरिक्ता के साथ युक्त किया है। इस शताब्दी के काव्यों में गुप्तजी को निकालकर परम्परा के साथ सम्बन्ध जोड़ना असम्भवप्राय है। इस हमारी परम्परा में जो कुछ मूल्यवान है, जो कुछ महत्वपूर्ण है, जो कुछ सदा के लिए संग्रह करने के योग्य एवं उपादेय है वह इनकी कृतियों में सुरक्षित है। यह कवि की अपराजेय प्रतिभा का द्योतक है कि

उन्हें जीवन और युग के साथ इतनी गम्भीरता के साथ युक्त पाया जाता है। गुप्तजी की इस विषय की गूढ़ रचनाओं का निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रत्यक्ष जगत को पूर्ण मानना भ्रामक है। जो ऐसा मानते हैं उन्हें रज्जु में अहिका भ्रम हो गया है। जो इसके दृश्य रूपों को स्थिर अचल-मान लेते हैं,वे मोह में फँस जाते हैं। पूर्णता परोक्ष और प्रत्यक्ष की एकता में है। एक दूसरा निष्कर्ष भी निकलता है। जिसे हम देखते हैं, वह अनदेखे से विलग नहीं है, उसी का अभिन्न अंग है। उस प्रकार जिसे हम सगुण और प्रत्यक्ष सत्ता कहते हैं, वह असत्य नहीं है, वह परोक्ष और निर्गुण सत्ता से अभिन्न रूप में जुड़ी हुई है। इसी न्याय से गुप्त जी को प्रत्यक्ष जगत ब्रह्ममय दिखाई देता है। शंकराचार्य ने भी जीव, ईश्वर विशुद्धचित् जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या और उसका चित् के साथ योग - इन छह को अनादि कहा है। उन्होंने माया को भी अनादि मान कर छोड़ दिया है। फलतः इनका अचिन्त्य और अतर्क्य है। गुप्तजी ने आगमिक ईश्वराद्वयवाद के अनुसार माना है कि ईश्वर का ऐश्वर्य और कर्तृत्व उसकी स्वाभाविक विशेषताएँ हैं। वह विश्व-वैचित्र्य के अवभासन में अन्य निरपेक्ष है, स्वतन्त्र है। वह अपनी ही स्वातन्त्र्यात्मा विमर्श शक्ति से केवल लीला के लिए विश्वावभासन करता है। वह आत्माराम है। अतएव उसमें कोई स्पृहा नहीं है। इसीलिए यहाँ किसी अभावमूलक प्रयोजन की भी बात नहीं की जा सकती। जिस शक्ति से ईश्वर अपने को आपूत करता है वह उसकी अपनी ही है, फलतः वह उससे अभिन्न है। मेघखंड जिस सूर्य को ढंकता है, वह सूर्य रश्मियों से ही प्रसूत है और वह सूर्य को आवृत करके भी वस्तुतः आवृत नहीं कर पाता है अन्यथा प्रकाशमान सूर्य के सर्वथा तिरोहित हो जाने से स्वयं आवरक के ही अस्तित्व का प्रकाश नहीं हो पाएगा। गुप्तजी शांकर अद्वैत से प्रभावित अवश्य है; उनका स्थान-स्थान पर अभिव्यंजन भी किया है, किन्तु गुरु-परम्परा के अनुसार वे आगमिक अद्वयवाद की मान्यताओं को ही लेकर चले हैं। उनकी आस्था उसी में है।

* आगमिक परतत्व जिस सरणि में आरोहण या अवरोहण करता है अर्थात् जीवभावग्रहण और विश्वावभास करता है।

शांकर अद्वैत उससे भिन्न सरणि का है। शांकर अद्वैत में महामाया या चिन्मयी शक्ति अव्यक्त है, अतः यहाँ माया वाले स्तर से अवरोहणक्रम अन्यसापेक्ष होकर होता है जबकि आगमिक अद्वय तत्व स्वेच्छया लीलार्थ मायोत्तर महामायास्तर से अवरोहण करता आत्मगोपन पूर्वक अनुभावपन्न होता है। सृष्टि के प्रारंभ में शिव जब शक्ति की ओर अभिमुख होता है तो वहाँ द्विदलभाव आभासित होने लगता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि वही चिन्मयीशक्ति सृष्टिकाल में भेद-शक्ति के रूप में जब आत्मसंकोच या आत्मगोपन करती है तब पूर्णाहं का संकोच और इदं भाव का प्रकाश साथ ही होता है, अनुरूप ग्राहक और ग्राह्य का अवभास होने लगता है।"[1] अवतार की लीला और लीला का मानवीकरण गुप्तजी के काव्य में स्थल-स्थल पर उद्भासित है। मानवीकरण भी इस कौशल से किया गया है कि वह यत्र-तत्र अतिमानवीय और परामानवीय होकर आगमिक अद्वयवाद के ब्रह्मस्वरूप में विलीन हो जाता है। गुप्तजी की भक्ति भी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि के लिए इसे और अधिक स्पष्ट करना अपेक्षित है। "शांकर अद्वैत जड़ जगत की निवृत्ति के साथ स्वरूप-प्रतिष्ठ होता है ; आगमिक अद्वय अचिदंश का भी चिन्मयीकरण करता हुआ सब कुछ के साथ स्वरूप प्रतिष्ठ होता है। यही कारण है कि शांकर अद्वैत के जीवनमुक्त की अनुभूति से आगमिक अद्वयवादी जीवनमुक्ति की अनुभूति में भी अन्तर होता है। जहाँ पहला संसार को अपनी मायात्मिका प्रकृति में दुःखमय स्वीकार करता है (फलतः उसकी निवृत्ति ही आनंदमय स्वरूपोपलब्धि के लिए अनिवार्य समझता है), वहाँ दूसरा विश्व को अपनी प्रकृति में आनन्दमय मानता है, फलतः संकोच से मुक्त होता है। ..... इसी प्रकार दोनों का एक पारस्परिक वैशिष्ट्य या अंतर यह भी है कि आगमिक अद्वयवाद न तो शुष्क ज्ञान मार्ग है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही है। इसमें दोनों का सामरस्य है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार भक्ति भेद की ही भूमिका पर संभव है, अतः अभेदज्ञान या स्वरूप प्रतिष्ठ

1- डा० राममूर्ति त्रिपाठी - आगम और तुलसी ; प्रथम संस्करण सन् 1977 ; पृष्ठ- 7

होने पर केवल ज्ञान की ही सर्वातिशायी स्थिति संभव है। वहाँ की पार्यन्तिक दशा में भक्ति का स्थान नहीं है। पर आगमिक अद्वयवाद में ज्ञान के बाद भी भक्ति की स्थिति कही गई है। वस्तुतः यहाँ चिदंश शिव एवं आनंदांश शक्ति के समरस रूप की स्थिति के कारण ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य सम्भव है, शांकर अद्वैतवाद में नहीं। यद्यपि भक्तिमार्ग के लिए द्वैत की अपेक्षा है, पर ज्ञानोत्तरा भक्ति के लिए अपेक्षित द्वैत कल्पित है। यह साध्य भक्ति है और इस पराभक्ति के फलस्वरूप अद्वैत में भी कल्पित द्वैत की तरंगें उठती रहती हैं, जिससे भक्ति की स्थिति संभव हो जाती है। फलतः यहाँ ज्ञान और भक्ति का पार्थक्य समाप्त हो जाता है।"[1]

संसार को राममय जानकर सत्य मानना तथा स्वार्थ और अहंकार से मुक्त होना - यह एक प्रकार का दृष्टिकोण है। संसार मिथ्या है, ब्रह्म इससे परे है, मनुष्य का जीवन ही उसका बंधन है- यह मानना दूसरा दृष्टिकोण है। एक लोकोन्मुख है ; दूसरा लोकविमुख। गुप्तजी का दृष्टिकोण लोकविमुख न नहीं है, इसलिए वे समाज के आचार-विचारों, मानव-जीवन के विविध व्यापारों का विस्तार से वर्णन करते हैं। भवसागर से मुक्ति पाने के लिए इन लोक-व्यापारों को छोड़ना आवश्यक नहीं है। आवश्यक है स्वार्थ और अहंकार का त्याग।

"भारतीय धर्म-दर्शन का योग एक अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त अंग रहा है। इसकी एक सुदृढ़ परम्परा पाई जाती है। पौराणिक काल के पहले से ही ज्ञान और तप साधना के दो विशिष्ट अंग स्वीकृत हो चुके थे। कालान्तर में तपोविद्या और ज्ञान के समन्वय से योगसाधना की एक पृथक प्रणाली प्रवाहित हुई। तांत्रिक मतों में यह विशेष रूप से समाहत हुई। इसके अन्तर्गत नाड़ी शोधन

1- डा० राममूर्ति त्रिपाठी - आगम और तुलसी ; प्रथम संस्करण ; सन् 1977 ; पृष्ठ-8-9

तथा नेति धौती आदि विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाओं के साथ भाव-साधना के उपादान के रूप में ध्यान की विविध प्रणालियों का विधान हुआ। किन्तु आगे चलकर इसका ध्येय मात्र चमत्कार प्रदर्शन और लोकख्याति अर्जन रह गया। इस बहिर्मुखता के कारण ही तांत्रिकों की योगपद्धति भक्ति में अन्तर्भुक्त नहीं हो पायी। भागवतकार ने योग की शारीरिक क्रियाओं को ध्यान में पर्यवसित कर एक नया मोड़ दिया। इससे योग में धर्मभावना के साथ ही रसात्मकता का सम्मिश्रण हुआ। तन्त्राचार से दग्ध उसका रूखापन जाता रहा। नवधा के बाद दशधा अथवा प्रेमाभक्ति की साधना आराध्य की रासमयी लीलाओं के ध्यान द्वारा ही होती थी। अतः इस नए सन्दर्भ में योग, आत्मा-परमात्मा, ध्याताध्येय तथा उपासक उपास्य के संयोग स्थापन का सर्वोत्कृष्ट साधन बन गया।"[1]

अपने आध्यात्मिक चिन्तन की सामाजिकता के कारण ही तुलसी ने निर्गुणोपासना के स्थान पर सगुण साकारोपासना का प्रतिपादन किया और राम के मर्यादावादी, शीलवान, शक्तिशाली किन्तु सुन्दर स्वरूप का जीवन्त निरूपण किया, जिससे समाज के लोग उससे प्रभावित होकर उनके कार्यों और व्यवहारों का अनुकरण कर सकें। एक ओर जहाँ भगवान कृष्ण की रासलीला चलती थी, वहीं दूसरी ओर धनुष-यज्ञ और रामलीला के प्रचार से समाज में एक विशिष्ट शक्ति, उत्साह और कर्त्तव्य-निष्ठा का संचार हुआ तथा समाज को अत्याचार के विरोध की शक्ति प्राप्त हुई।

राम के इस मर्यादावादी और कर्तव्यनिष्ठ ऐतिहासिक स्वरूप की रक्षा करते हुए, जिसका कि मूल आधार बाल्मीकि-कृत रामायण था, गुप्तजी ने अपने तर्क और चिन्तन द्वारा उसमें परब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा की। उनका

1- डा० भगवतीप्रसाद सिंह - तुलसीदास ; चिन्तन ; अनुचिन्तन ; प्रथम संस्करण सन् 1974 ; पृष्ठ- 75-76

इकरूप कर्त्तव्यनिष्ठ और सामाजिक मर्यादाओं की स्थापना करने वाला अनुकरणीय आदर्श है। इन सब संदर्भों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि गुप्तजी ने अपने समय की दशा को देखकर क्रान्तिकारी कार्य किया था और उनका अध्यात्म-चिन्तन सामाजिक संदर्भों से जुड़ा हुआ था।

"विज्ञान और दर्शन की बारीकियों से हटकर हम जो कुछ अपनी आँखों के सामने देखते हैं, सामान्यत: उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- अजीव और सजीव, जड़ और चेतन। चेतन वर्ग में भी दो अवांतर श्रेणियाँ सुविधा के लिए कर ली गई हैं - जीवशिरोमणि मानव तथा मानवेतर। मानवेतर जीवों से मानव की दो विशेषताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो मानव की रागात्मक सत्ता का विस्तार अपने शरीर और उससे सम्बद्ध इतर शरीरों तक तो है ही, उससे आगे भी है। इसलिए वह असंबद्ध प्राणियों के सुख से सुखी और दुख से दुखी होता है, जबकि मानवेतर प्राणियों का रागात्मकता सत्ता की परिधि केवल अपने शरीर तथा संबद्ध शरीरों तक ही विकसित रहती है। मानव की मानवेतर प्राणियों की तुलना में दूसरी विशेषता यह है कि वह स्वयं और आत्मीय जनों के जीवन के लिए रक्षक और रंजन का प्रयत्न करने वालों के प्रति कृतज्ञ होता है-- मानवेतर कतिपय प्राणियों में यह कृतज्ञता स्वामिभक्ति के नाम से जानी जाती है पर मानव में इससे भी बड़ी एक मनोवृत्ति होती है, जिसे श्रद्धा कहा जाता है। श्रद्धा एक सामाजिक भाव है जो आत्मा और आत्मीय की परिधि को लाँघता हुआ सार्वभौम भी हो सकता है। लोक मंगल की दिशा में, प्राणिमात्र के रक्षण और रंजन की दिशा में, असामान्य गुण-क्रिया संपन्न व्यक्ति के प्रति चाहे हमने उसे देखा हो या न देखा हो -- एक रागात्मक भाव उमड़ पड़ता है और उसे हम श्रद्धा के नाम से जानते हैं। जिस समाज में इस भाव के आश्रय और आलम्बनों की जितनी ही अधिक संख्या रहती है वह समाज उतना ही मानवीय और लोकमंगलकारी होता है। मानव के हृदयाकाश में घिरने वाली यह श्रद्धा की घटा बरसकर मानवधरा को हरा-भरा कर देती है। यही श्रद्धा भक्ति का प्रारंभिक

रूप है। अनुशीलकों ने "ऋग्वेद" की स्तुतिपरक ऋचाओं में भक्ति के इसी आरंभिक रूप की झलक देखी और दिखाई है।

मानव ने कार्यमात्र के मूल में सक्रियकर्त्ता की व्याप्ति द्वारा जगत रूप कार्य के भी नियामक की निराकार कल्पना की और उस सर्वातिशायी लोकमंगलिक सत्ता के प्रति उत्तरोत्तर द्रव्यमय यज्ञपूजा से बढ़कर भावमय उपासना आरंभ की। दूर-दूर से जगन्नियंता के गुणों और क्रियाओं के माध्यम से उत्पन्न श्रद्धा मानव हृदय को तृप्त न कर सकी, वह सान्निध्यकामी हुआ, दोनों का दोनों के जीवन में प्रवेश चाहने लगा। परिणाम यह हुआ कि श्रद्धा के साथ प्रेम का भी योग हुआ। इसका नाम प्रेम भक्ति पड़ा। कारण, इसमें जीवन का कुछ भाग भजनीय में और भजनीय के गुणों का भाग भक्त में आना-जाना आरंभ हुआ। यही भाग भक्ति बनी। शास्त्रकारों ने इसी का विवेचन "साधन भक्ति" के रूप में किया है। चिन्तन और मनन की इस आध्यात्मिक प्रक्रिया में शास्त्रकारों ने भक्ति के और भी श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर सोपान आविष्कृत किए, जिन्हें परमाभक्ति तथा स्वरूप भक्ति के नाम से जाना गया। इस प्रकार, आरंभ से अबतक भक्ति के कुल चार सोपानों की चर्चा शास्त्र में मिलती है। श्रद्धा, श्रद्धा-प्रेमगर्भ साधनभक्ति, परमाभक्ति तथा स्वरूप भक्ति। शास्त्रकारों की धारणा है कि केवल श्रद्धा भक्ति नहीं है, उसमें प्रेम का योग भी होना चाहिए। श्रद्धा प्रेममयी भक्ति के साथ जिन श्रवणादि जब साधन भक्ति की चर्चा शास्त्रकारों ने की है, वह तबतक कर्मरूपा मानी जाती है जब तक साधक में कर्तव्य का अभिमान रहता है। कर्तृत्वाभिमान के विगलित हो जाने पर, अहंता से रहित हो जाने पर, वही कर्म भाव रूपा भक्ति में परिणत हो जाता है। भक्ति वस्तुतः कर्मरूपा नहीं अपितु कर्मातीत है, इसलिए साधन भक्ति को भक्ति नहीं कहा जाता। वह तो भावमयी परमाभक्ति है। यह आत्मसाक्षात्कार के बाद प्रारंभ होती है। इसका चरम उत्कर्ष "स्वरूप भक्ति" है। यही भक्ति का वास्तविक रूप है।"[1]

1- डा० राममूर्ति त्रिपाठी - आगम और तुलसी ; प्रथमसंस्करण सन् 1977 पृष्ठ- 36-37

[redacted] राम का लोकातिशायी व्यक्तित्व सर्वत्र लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित है। ऋजुता से वक्रता का संघात, सत का असत् से संघर्ष और शिव का अशिव से द्वन्द्व ही राम और रावण का युद्ध है। जीवन की सुविशाल पट-भूमि पर व्यक्तित्व की महान प्रतिष्ठा करने में असाधारण शिल्प-प्रतिष्ठा अपेक्षित है, इसे मैथिलीशरण भली-भाँति जानते थे। नाना पुराण निगमागम के अनन्त संदर्भों को ध्यान में रखते हुए, अपनी महतीशील दामता को तौलते हुए, पूर्वसूत्र वाल्मीकि और तुलसी के उदात्त हृदय की विस्तृत पर भूमि का विषयाधार लेकर गुप्तजी साकेत का निर्माण करने में समर्थ हो जाते हैं।

"भारतीय आचार एवं विचार-परम्परा के निर्माण में रामकथा का प्रभाव सर्वाधिक रहा है। इस देश की धार्मिक तथा दार्शनिक मान्यताओं के क्रम से बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में इसका महत्व अक्षुण्ण रहा और एक विशिष्ट प्रेरणा-स्त्रोत के रूप में इसे समादर प्राप्त होता रहा। यह सत्य है कि रामकथा का ऐतिहासिक रूप वेदों में नहीं मिलता और न इसके पात्रों का उसमें कोई क्रमबद्ध वृत्त ही उपलब्ध होता है, परन्तु गाथा तथा पुराणकाल में रामकथा को जो स्वरूप मिला उसमें वैदिक वांगमय का प्रभाव स्पष्ट है। वेदों में निर्दिष्ट राम, सीता तथा हनुमान के क्रमशः नाम, आविर्भाव और गुणों के आधार पर विद्वानों ने अनुमान से रामकथा के बीज ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में कीथ का प्रयास विशेष उल्लेख्य है। किन्तु अनुमान के स्तर से ऊपर उठकर विद्वत्समाज में उसे वास्तविकता का समादर नहीं प्राप्त हो सका। फिर भी राम की आविर्भाव भूमि अयोध्या का अथर्ववेद में देवानां पुरः अयोध्या (देवताओं की पूरी अयोध्या) के रूपमें महत्त्वगान, परम्परा से तीर्थरूप में उसकी प्रतिष्ठा, बौद्ध साहित्य में साकेत रूप में इसकी सुरक्षित गौरवगाथा, आलवारों और वैष्णवाचार्यों का सुदूर दक्षिण से उसके दर्शन के निमित्त आगमन, आदि इतने पुष्ट प्रमाण हैं कि इस पुण्यकथा की प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

रामकथा का मूलस्त्रोत बाल्मीकि रामायण है, किन्तु लिपिबद्ध होने के बहुत पहले से इसके लोकप्रचलित होने के उल्लेख मिलते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि स्वयं महर्षि बाल्मीकि को रामायण के स्वरूप-निर्माण में देवर्षि नारद द्वारा बताते हुए कथासूत्र को समकालीन लोकजीवन में बिखरे हुए रामकथा विषयक तत्वों से समृद्ध करना पड़ा था।

"श्रुत्वा पूर्वं काव्यबीजं देवर्षि नारदाद्दर्षिः।
लोकादन्विष्य भूयश्च चरितं चरितव्रतः।।"[1]

इतालिया (इटली) में कई शताब्दियों तक एक उक्ति बड़ी प्रसिद्ध रही---

इन्दिग्नो क्वान्दोके बोन्स दोर्मिताल इमेरस।

(जब यूनानी महाकवि होमर की उपेक्षा होने लगती है, तब हमाराजी झल्ला उठता है।) इसी को कुछ परिवर्तित करके हम कह सकते हैं कि जब भारत में तुलसी की उपेक्षा होने लगती है, तो भारतीय सहृदयजीवियों का जी झल्ला उठता है, क्योंकि तुलसी ने केवल महाकाव्य की ही रचना नहीं की, उन्होंने हमारे मुमूर्षु समाज को रामचरितमानस रूपी औषधि देकर जीवित बने रहने की संजीवनी शक्ति भी दी है। प्राचीन मंत्र-द्रष्टा महर्षियों के समान भविष्यद्रष्टा, वाक्यद्रष्टा, दूरदर्शी निर्देशक, समर्थ उपदेशक, विचारशील आख्याता, अतिकुशल व्याख्याता, एकान्त साधक और एकनिष्ठ आराधक होने के कारण उन्होंने सत्यभावित भावित की स्थापना और भावना करके समस्त मानव-समाज को इस प्रकार भावित, प्रभावित और विभावित किया कि संसार के सभी महाकवि होमर, दाँते, वर्जिल, मिल्टन और फिरदौसी सब पीछे छूट गये। गुप्तजी ने इसी विरासत को निभाया।

1- डा० भगवती प्रसाद सिंह - रामभक्ति ; परम्परा और साहित्य ; प्रथम संस्करण ; 1974 - पृष्ठ-3-4

कवि और काव्य उस समाज और संस्कृति से अभिन्न रूप से संबंधित होते हैं, जिनमें उनका जन्म होता है। इसीलिए काव्य अथवा साहित्य के द्वारा हम युगचेतना तथा संस्कृति तक पहुँचने का उपक्रम करते हैं। कोई भी काव्य विशुद्ध काव्य नहीं होता, क्योंकि उसमें लक्षित अथवा अलक्षित रूप से समाज और संस्कृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण संपुटित रहता है। इनका अस्वीकार भी एक दृष्टिकोण ही कहा जायेगा । इसीलिए पलायन का साहित्य भी समाज निरपेक्ष वस्तु नहीं है। श्रेष्ठ कवि व्यापक जीवन-भूमिका के कवि होते हैं और वे अपने काव्य में धर्म, दर्शन, नीति, राजनीति अथवा समाज-नीति को आत्मसात करते हुए चलते हैं। वे मानव-चेतना को समग्रता में ग्रहण करते हैं, क्योंकि न मानव-जीवन को खण्डों में बाँटा जा सकता है न मानव-चेतना को। गुप्तजी जैसे महाकवियों के लिए यह बात और भी लागू होगी, क्योंकि वे सार्वभौम चेतना और व्यापक मानवता के कवि हैं।

जो वृक्ष आकाश में जितना ऊँचा उठेगा, उसकी जड़ें भी धरती के भीतर उतनी ही गहरी होंगी। अतः राष्ट्रव्यापी चेतना, जीवन-संस्कार अथवा महत् नायक की कथा को लेकर चलने वाला महाकाव निस्सन्देह राष्ट्रीय जीवन की गहराइयों में प्रवेश करेगा। उसमें जाति की सम्पूर्ण इतिहास-चेतना निबद्ध होगी। परम्परा का बोध उसकी सर्जना को प्रामाणिकता देगा और उसे अक्षय जातीय सूत्रों से जोड़ेगा।

संस्कृति निरंतर प्रवहमान, सतत विकसित तथा नवनवोन्मेषशालिनी जातीय प्रतिभा है। अपने दीर्घ जीवन में गुप्तजी ने तत्कालीन संस्कृति के पूर्णोन्मेष का अनुभव किया था। उनका काव्य वर्ग-संस्कृति का प्रतिनिधि न होकर समस्त हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति का प्रतीक है।

चुनौती और प्रतिक्रिया दोनों को ही गुप्तजी ने काव्य के उच्चतम आयामों के धरातल पर ही स्वीकार किया है, क्योंकि गुप्तजी प्रथमतः और अंततः कवि हैं। इसके लिए उन्हें काव्य की एक नई कोटि गढ़नी पड़ी है और

वह है " सांस्कृतिक काव्य "। धर्म उसका अभिन्न अंग है, परन्तु यहाँ कवि की दृष्टि और भी व्यापक है और समाज, राजनीति, विचार और दर्शन सभी को छूती है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार ईश्वर के सगुण रूप के साथ ही साथ निर्गुण-रूप को भी उचित श्रद्धा, विश्वास तथा महत्व प्रदान किया जाता है। भारतीय लोग जिसमें आदर्शों का चरम विकास देखते हैं। उसे भी ईश्वर का रूप समझकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं। गुप्त जी ने भारतीय संस्कृति की विशेषता का वर्णन करते हुए " साकेत "में लिखा है :-

" अलख की बात अलख जानें
समझ को ही हम क्यों न मानें?
रहें वही प्लावित प्रीति-धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा। "।

प्रत्येक देश की अलग-अलग रीति-नीति, परम्पराएँ तथा विश्वास होते हैं। नीति का साधारण अर्थ धर्म से लिया जाता है। धर्म की व्याख्या है -" धारयते इति धर्मः "

धर्म के अन्तर्गत निग्रह का महत्वपूर्ण स्थान है। निग्रह में "काम" और लोभ यह दो वृत्तियाँ प्रमुख होती हैं। लोभ का निग्रह अपरिग्रह है। साकेत-कार ने राम और भरत को अत्यन्त निर्लोभी के रूप में प्रस्तुत किया है। राम और भरत दोनों राज्य को तृणवत् त्याग कर देते हैं।

धार्मिक लोग धर्म के विपरीत कार्य करने से डरते हैं एवं किसी कारणवश भूल से यदि त्रुटि हो जाए तो वे दैव-दैव कहकर इसका प्रायश्चित कर लेते हैं।

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 397

कौशल्या राम का वनवास सुनकर दैव को स्मरण करती है :-

" सब हैं तब क्या ये बातें?
दैव? दैव? ऐसी घातें। "1

क्षत्रिय लोग क्षात्र-धर्म का पालन करते हैं। वे अपना अधिकार छोड़ना अन्याय और भीरुता समझते हैं। दीनता की बातें उन्हें नहीं सुहाती। गुप्तजी ने माता सुमित्रा को क्षत्रियाणी के रूप में चित्रित किया है। वह भिक्षा को मृत्यु के समान समझती हैं। उनका कहना है, अधिकारों के लिए भिक्षा नहीं माँगी जाती। हृदय में आयोचित रक्त बहता रहे और आर्य-भाव की श्रेष्ठता बनी रहे उनकी कामना है :-

" स्वत्वों की भिक्षा कैसी?
दूर रहे इच्छा ऐसी।
उर में अपना रक्त बहे
आर्य भाव उद्दीप्त रहे। "2

क्षात्र-धर्म का पालन करने वाले वीर पुरुष न तो किसी के अधिकारों का अन्यायपूर्वक हनन करते हैं और न अपना भाग दूसरों को देते हैं :-

" हम पर भाग नहीं लेंगी,
अपना त्याग नहीं देंगी।
वीर न अपना देते हैं,
न वे और का लेते हैं।
वीरों की जननी हम हैं।
भिक्षा-मृत्यु हमें सम है। "3

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 97
2- वही, पृष्ठ - 101
3- वही, पृष्ठ - 102

धर्म रूपी धन ही सर्वश्रेष्ठ है। कौशल्यामाता राम से कहती हैं :-

" जाओ तब बेटा, वन ही
पाओ नित्य धर्म-धन ही। "1

धार्मिक जन धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। गुप्तजी ने राम को अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति का दिखाया है। राम इच्छा से धर्म को बड़ा मानते हैं। वे अपने पिता से कहते भी हैं :-

" तात, क्या तुम्हें क्या ज्ञात नहीं?
स्पृहा बड़ी या धर्म बड़ा?
किसमें है शुभ कर्म बड़ा? "2

उपवास एक धार्मिक अनुष्ठान है। धार्मिक स्त्रियाँ उपवास करती हैं। वे उपवास करके अपने स्वामी तथा पुत्र की मंगल कामना करती हैं। सीता कहती हैं :-

" वधुएँ लंघन से डरती -
तो उपवास नहीं करती। "3

धार्मिक लोगों के भाव सदैव उदात्त होते हैं, किन्तु पतित एवं नीच-वृत्ति के लोग सदैव धर्म के विपरीत बातों में ही आनन्द लेते हैं। वे श्रेष्ठ पुरुषों के हृदयगत उच्चभावों को नहीं जानते। इसलिए वे दूसरों को अपने जैसा ही नीच समझते हैं। गुप्तजी ने राम वनवास के प्रसंग में कैकेयी के विषय में ऐसा ही कुछ कहा है :-

" पतित क्या उन्नतों के भाव जानें?
उन्हें वे आप ही में क्यों न सानें। "4

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 107
2- वही, पृष्ठ - 112
3- वही, पृष्ठ - 118
4- वही, पृष्ठ - 84

गुरुजनों तथा श्रद्धेय व्यक्ति की आज्ञा का पालन करना धर्म के अन्तर्गत आता है। सचिव सुमन्त धर्म से विमुख होना श्रेय नहीं समझते तभी तो वे राम को भी धर्म से विमुख नहीं करना चाहते :-

" न रोकूँगा तुम्हें मैं धर्म-पथ से "।

धार्मिक व्यक्तियों का विश्वास है कि संसार के समस्त कार्य ईश्वर के इंगित के अनुसार ही होते हैं। वशिष्ठ मुनि राजा दशरथ से कहते हैं :-

" यह उचित नहीं अस्थैर्य
ईश के इंगित के अनुसार
हुआ करते हैं सब व्यापार। "2

भारतीय संस्कृति के अनुसार लोग विश्वास करते हैं कि उनका भाग्य पूर्वजन्म के कृत्यों पर ही आधारित है। कर्मानुसार भाग्य होने के कारण वह पत्थर की लकीर की भाँति होती है। वह मिटाए नहीं मिटती शची के द्वारा यह पूछने पर कि नहुष को इन्द्र-पद क्योंकर दिया गया, वरुण ने उत्तर दिया:-

" काटा नहीं जा सकता वज्र से भी कर्म तो। "3

धर्म के व्यापक अर्थ में व्यक्तिगत कर्म एवं कर्तव्य का महत्व पूर्ण स्थान है। आर्य पुरुषों का धर्म अपने कर्तव्यों का पालन करना है। शची नहुष से कहती है :-

" धन्य! कर्म करना ही धर्म रहा आर्य का। " 4

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 90
2- वही, पृष्ठ - 59
3- मैथिलीशरणगुप्त - नहुष ; सोलहवाँ सं०, 2024 वि० ; पृष्ठ - 55
4- वही, पृष्ठ - 33

भारतीय संस्कृति के पोषक विश्वास करते हैं कि इस पृथ्वी की रचना उस विराट शक्ति ने ही की है, जो समस्त संसार को संचालित करती है —

"व्योम रचा जिसने, उसीने वसुधा रची,
किस कृति-हेतु नहीं उसकी कला बची?"[1]

नहुष इन्द्र के पद को प्राप्त करने पर भी धार्मिक आचार को नहीं त्यागता। वह पूजा-पाठ, संध्या वन्दनादि अभ्यास के अनुसार नियमित ढंग से करता है।

"सन्ध्या-वन्दनादि क्रिया अभ्यासानुसार ही।"[2]

भारतीय संस्कृति में पल्लवित धर्म के अनुसार पर-दारा से प्रेमनिवेदन करना धर्म के विपरीत कर्म माना जाता है। इसका उल्लेख कवि ने किया है। कीचक की कामुकता पूर्ण बातें सुनकर सैरन्ध्री कहती है :-

"अहो वीर बलवान, विषम विष की धारा से
बोलो ऐसी बात न तुम मुझ पर-दारा से,
तुम जैसे ही बली कहीं अनरीति करेंगे
तो क्या दुर्बल जीव धर्म का ध्यान धरेंगे।"[3]

कीचक का वध करके कवि ने अन्याय, अत्याचार अनाचार तथा पाप का क्षय दिखाया है दूसरी ओर द्रौपदी का नैतिक उत्कर्ष धर्म का अभ्युदय है।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत पुर्नजन्म में विश्वास किया जाता है कवि भारतीय संस्कृति के पोषक होने के कारण लिखते हैं :-

---

1- मैथिलीशरणगुप्त - नहुष ; सोलहवाँ संस्करण ; 2024 वि० ; पृष्ठ-26
2- वही, पृष्ठ- 42
3- मैथिलीशरण गुप्त - सैरन्ध्री ; तेरहवाँ संस्करण ; 2024 वि० ; पृष्ठ- 27

" व्याधि, जरा, मृत्यु है तो जन्म भी तो है नया,
आयु फिर नूतन हो ; जीर्ण होके जो गया।"1

दुःख सहन कर लेना प्रत्येक के वश की बात नहीं, किन्तु यह सहन शक्ति निश्चय ही वरेण्य है। भारतीय संस्कृति हमें शिक्षा देती है कि विघ्न से लड़कर ही मनुष्य बड़ा बन सकता है:-

" होगा वह क्या बड़ा, जो विघ्नों से नहीं लड़ा?
यों तो सुखी शान्त वही, जो जड़ हुआ पड़ा।"2

भारतीय संस्कृति के पोषक भाग्य में विश्वास करते हैं। कहीं राज्याभिषेक की तैयारी थी और कहीं वनवास हो गया। भाग्य के इस उलटफेर से क्षुब्धहोकर उर्मिला कहती है--

" दुर दृष्ट, बता स्पष्ट मुझे
क्यों है अनिष्ट ही इष्ट तुझे?
x x x x
तूने जो कुछ दुरदृष्ट किया,
आभास स्वप्न में भी न दिया
कुछ शमन-यत्न करते हम भी
है योग्य साध्य दुर्दम क्रम भी।"3

परन्तु धीर वीर शंकाओं से भयभीत नहीं होते। वे पुरुषार्थ में विश्वास करते हैं। शत्रुघ्न कहते हैं--

---

1- मैथिलीशरण गुप्त - नहुष ; सोलहवाँ संस्करण ; 2024 वि० ; पृष्ठ-28
2- वही, पृष्ठ- 34
3- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ- 165

" रूठा और अदृष्ट मनाने की बातें हैं,
तो मैं सीधा उसे करूँगा आघातों से।"[1]

सीता भाग्य पर विश्वास करती है। शूर्पणखा-प्रसंग से भीत होकर वह कहती हैं कि हमलोगों ने राज्य के समस्त भोग विलासों का परित्याग किया, सम्पूर्ण धन, सम्पत्ति, वैभव को छोड़ा। क्या भाग्य हमारे इस सुख को भी नहीं सहेगा। उसे भय है कि भाग्य उनलोगों की इससे भी कठिन परीक्षा कहीं न ले। वह कहती है:-

" हमने छोड़ा नहीं राज्य क्या?
छोड़ी नहीं राज्य निधि क्या?
सह न सकेगा कहीं, हमारी,
इतनी सुविधा भी विधि क्या।"[2]

धर्म में आस्था रखने वाले भारतीय भाग्यवादी होते हैं। वे अपने भाग्य को ही सब कुछ मानते हैं। उनकी दृष्टि में संसार में जो कुछ होता है वह विधाता के विधान के अनुसार ही होता है; वे देव के विधान में उलट-फेर करना अपनी शक्ति से बाहर समझते हैं। वे भाग्य को ही प्रवचन मानते हैं। एवं सब कुछ भाग्य का फल मानते हैं। कवि ने इसी बात को साकेत, में राम के माध्यम से व्यक्त किया है। राम को जब "वनवास" का आदेश दिया जाता है तो लक्ष्मण अत्यन्त क्रोधित होकर तर्क करने लगते हैं। राम अपने अनुज को समझाते हैं कि जो कुछ हो रहा है विधाता की इच्छा के अनुकूल ही हो रहा है:-

" समझ लो, दैवकी इच्छा यही है,
करें जो कुछ कि होता वही है।"[3]

1- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ- 453
2- मैथिलीशरण गुप्त - पंचवटी ; तिरसठवाँ संस्करण ; 2025 वि० ; पृष्ठ- 67
3- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ- 80

" रामायण कालीन (वाल्मीकीय रामायण में वर्णित) संयुक्त परिवार के अनुसार परिवार का मुख्य पुरुष पिता होता था। उसकी आज्ञा सभी को तर्क-वितर्क किए बिना स्वीकार करनी होती थी। पारिवारिक सम्पत्ति का वितरण पिता की इच्छानुसार होता था। इसीलिए कैकेयी से विवाह के समय दशरथ कैकेयी के भावी पुत्र को राज्य देने का वचन दे सके थे। कुल के गौरव, परम्परागत रूढ़ियों और संस्कारों का पालन करना परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोपरि धर्म था। पारिवारिक स्थिरता, लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण के लिए विवाह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक ही नहीं था, वरन् चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठ के रूप मान्यता (चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्) होने के कारण उसका विशेष महत्व भी था।"[1]

धर्मीय कर्म का वास्तविक क्षेत्र है गार्हस्थ्य-जीवन। गुप्तजी का जीवन संयुक्त परिवार में ही बीता अतः गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण उन्होंने बड़ी ही सफलता के साथ अंकित किया है। लोभ का सर्वथा परित्याग, निहित माना गया है। इसीलिए धर्म के अन्तर्गत भारतीय राजाओं का लक्ष्य विजय प्राप्त करना रहा है। धन लूटना धर्म के विपरीत कार्य करना है। उर्मिला भी धर्म में विश्वास रखती है तभी तो वह सोना को ग्रहण करने की अपेक्षा समुद्र में डूबो देना श्रेय समझती है। शत्रुघ्न द्वारा लंका की स्वर्णपुरी को लूटने का आदेश देने पर उर्मिला कहती है--

" नहीं, नहीं, पापी का सोना
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
वीरों, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
x x x x
सावधान! वह अधर्म-धान्य सा धन मत छूना
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना।"[2]

1- रामस्वरूप दुबे - साकेत सुधा ; प्रथमांक ; 1962 ; पृष्ठ- 43,44
2- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ- 474

भारतीय सामाजिक परम्परा के अनुसार पुत्र-पुत्रियाँ पिता कौसल्या कहते हैं, छोटे भाई बड़े भाई को आर्य, भाभियों को आर्या, स्त्रियाँ पतियों को आर्यपुत्र, पति उनको देवी आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।साकेत में इन सबका दर्शन हो जाता है। भारतीय समाज में स्त्रियाँ पति के नाम नहीं लेतीं। उर्मिला भी पति का नाम नहीं लेती। यहाँ तक कि वियोगावस्था में आत्म विस्मृति में भी "विवश लखू" कहकर चुप हो जाती है। वनगमन के समय नगर की स्त्रियों द्वारा यह पूछने पर "शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं?" सीता समझा जाती है, वह पति का नाम नहीं लेती-वरन् बड़ी सावधानी के साथ बता देती है कि उसका पति कौन है-- "गौरे देवर, श्याम इन्हींके ज्येष्ठ हैं।"[2]

छोटे तथा बड़े का पारस्परिक व्यवहार क्या होना चाहिए। अपने से बड़ों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। अपने बराबर वालों से तथा छोटों से कैसा व्यवहार करना चाहिए,इन सबका निदर्शन हमें साकेत में हो जाता है। वशिष्ठ मुनि कुलगुरु हैं। दशरथ परिवार में सभीजन उनका उचित आदर एवं सम्मान करते हैं। सुमन्त सेवक हैं, किन्तु पिता के समवयस्क होने के कारण राम लक्ष्मण उन्हें "काका" कहकर सम्बोधित करते हैं। सुमन्त भी राम-लक्ष्मण को भैय्या कहकर पुकारते हैं। वृध्यिों और विद्वानों को राजपरिवार में उचित सम्मान दिया जाता है। भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार का महत्व -पूर्ण स्थान है।

"चित्रकूट" में रामचन्द्र के माध्यम से कवि ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है---

---

1- मैथिलीशरण गुप्त - साकेत ; 2025 वि0 ; पृष्ठ- 148

2- वही, पृष्ठ- 148

" अपना आमन्त्रित अतिथि मान कर सबको,
पहिले परोस परितृप्त-दान कर सबको,
प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन यों
सेवन करता है मन्द पवन उपवन ज्यों। "1

सीता पर-पुरुष (दुर्जन) से बात करना धर्म के विरुद्ध समझती है :-

" विमुख हुई मौनव्रत लेकर उस खल के प्रति पतिव्रता। "2

लंका में रावण के यहाँ रहने के कारण पर पुरुष स्पर्श के कारण सीता की अग्नि शुद्धि हुई थी। इससे पातिव्रत का आदर्श इतना उच्च है कि :-

" उड़ जावेगा दग्ध देश का
सती-श्वास से ही बल-वित्त। "3

भारतीय संस्कृति ने गंगा, यमुना, सरयू, विंध्य, हिमालय को धार्मिक रंग में रंग दिया है। [illegible] मार्ग में गंगाजी को देखकर श्रद्धा एवं प्रसन्नता से विभोर होकर गंगाजी की स्तुति करते हुए सीताजी ने कहा, हे आनन्द-तरंगिणी मधुर ध्वनिमयी, निर्मल अंचल और पवित्र जल की धारिणी तथा देवलोक में ही सम्भव है गंगे तेरी जय हो। तेरे दर्शन और स्पर्श से ही मुझे अपने सब पुण्य कार्यों की सिद्धि पहले ही हो गई तब मैं तुमसे और क्या याचना करूँ?

" जय गंगे, आनन्दतरंगे, करुणे
अमल अंचले, पुण्यजले, दिवसम्भवे
x x x
दरस परस की सुकृत-सिद्धि ही जब मिली
माँगे तुमसे आज और क्या मैथिली? "4

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 246
2- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2031 वि० ; पृष्ठ - 343
3- वही, पृष्ठ - 438
4- वही, 2025 वि० ; पृष्ठ - 145

उर्मिला ने भी साकेत वासियों को गंगा, यमुना, सरयू इन पवित्र सरिताओं के नाम पर उत्साहित किया :-

" चन्द्र सूर्य कुल कीर्त्ति कला रुक जाय न वीरों
विन्ध्य हिमाचल भाल कहीं झुक जाय न वीरों
देखो उतर न जाय कहीं पर मौलिक पानी
गंगा-यमुना-सिन्धु और सरयू का पानी। "1

" काम " के क्षेत्र में निग्रह का विधान पुरुषों का एकपत्नीव्रत तथा नारियों के पातिव्रत धर्म के द्वारा स्थिर किया गया है। कवि ने सीता को पतिव्रता नारी के रूप में लक्ष्मण को एक पत्नीव्रत के रूप में दिखाया है। लक्ष्मण कहते हैं :-

" यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना। "2

समाज के संगठन एवं उन्नयन में शिष्टाचार का महत्वपूर्ण स्थान है। शिष्टाचार नीति का एक अंग है। शिष्ट आचार से मनुष्य के शील का उत्कर्ष होता है। कवि ने अपने काव्यों में पात्रों के द्वारा शिष्टाचार करते हुए दिखाया है। साकेत में अपने से बड़ों बराबर वालों, छोटों तथा स्त्रियों के प्रति क्या व्यवहार होना चाहिए उसका विशद अंकन हुआ है। कवि ने राजपरिवार को ऋषियों तथा विद्वानों के आदर सत्कार कराते हुए दिखाकर समाज में शिष्टाचार के महत्व को प्रतिपादित किया है। पिता का समवयस्क एवं परिवारमुक्त होने के कारण राम सेवक सुमन्त्र को भी " काका " कहते हैं :-

" सुमन्त्रागम समझकर रुक गये वे।
" अहा! काका, " विनय से झुक गये वे। "3

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2031 वि० ; पृष्ठ - 377
2- वही, पृष्ठ - 387
3- वही, 2025 वि० ; पृष्ठ - 81

प्रभु रामचन्द्रजी पधारे हैं। यह नया समाचार जानकर सपरिवार गुहराज भेंट लेकर आ पहुँचे। राम ने भी उनको उचित सम्मान दिया तथा गुहराज को हृदय से लगा लिया गुहराज का उपहार लाना तथा रामचन्द्र का उन्हें हृदय से लगा लेना यह सभी बातें शिष्टाचार के अन्तर्गत आती हैं :-

" प्रभु आये हैं, समाचार सुनकर नया
भेंट लिये गुहराज सपरिकर आगया
देख सखा को दिया समादर राम ने,
उठकर, बढ़कर लिया प्रेम से सामने। "1

x x x

गुहराज कहते हैं :-

वारूँ मैं निज नीलविपिन के फूलसब
सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब, किसे
क्यों न कहूँ मैं अहोभाग्य इसे? "2

सीता शिष्टाचार का अपनी अँगूठी गुहराज को देती है। गुहराज स्वर्ण मुद्रिका नहीं लेना चाहते,वह भक्त हैं अत: राम के चरण-रज के ही कामी हैं :-

" गुह बोला कर जोड़ कि यह कैसी कृपा।
न हो दास पर देवि, कभी ऐसी कृपा।
क्षमा करो, इस भाँति न तुम तज दो मुझे।
स्वर्ण नहीं है राम चरण रज दो मुझे। "3

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 137
2- वही, पृष्ठ - 137
3- वही, 2031 वि० ; पृष्ठ - 117

मैथिलीशरणगुप्त एक उदार वैष्णव भक्त कवि हैं। धर्म में उनकी गहरी आस्था है। राम के वे अनन्य भक्त हैं। गुप्तजी आर्यधर्म के सभी अंगों में आस्था रखते हैं। वेद, यज्ञ, जप, तप, व्रत, पूजा आदि सभी को वे मान्यता देते हैं। अपने काव्यों में उन्होंने धर्म को यत्र तत्र चित्रित किया है। वेद आर्य संस्कृति के आधार हैं एवं यज्ञ उसके प्रमुख साधन। कवि साकेत में राम के माध्यम से इसी सत्य का उद्घोष कराते हैं :-

" उच्चारित होती चले वेद की वाणी
गूँजे गिरि कानन सिन्धु पार कल्याणी
अम्बर से पावन होम धूम लहराये। "।

साकेत में यज्ञ, जप, पूजा, पाठ का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। उर्मिला की माता धार्मिक रूप में चित्रित हैं। वह स्वयं व्रत करती हैं तथा अपनी कन्याओं को गौरी-पूजा करने भेजती हैं। खरदूषण के विजय प्रसंग में राम एवं शत्रुघ्न इन्हीं बातों पर जोर देते हुए कहते हैं :-

" होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब
जप, समाधि, तप पूजापाठ
यहा गाती हैं मुनि कन्यायें
कर व्रत पर्वोत्सव के ठाठ। "[2]

आर्य संस्कृति के अनुसार धन को तुच्छ माना जाता है। इस संस्कृति के अन्तर्गत आर्य पुरुष के कुछ विशिष्ट लक्षण हैं। दुखी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति प्रकट करना, एकत्रित किए गए धन का दुरुपयोग न करके उसका उचित उपयोग करना, वेद पाठ करना, यज्ञ करना, संसार की विभिन्न बाधाओं को तथा

1- मैथिलीशरणगुप्त = साकेत ; 2031 वि० ; पृष्ठ - 186

2- वही, पृष्ठ - 328

समस्याओं को दूर करना; भगवत् भजन करना, अनार्यों को आर्य बनाना, सादा जीवन व्यतीत करना तथा मर्यादा के भीतर रहना आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राम और रावण का संघर्ष आर्य और कौशाप संस्कृति का संघर्ष है अत: युद्ध में राम की विजय आर्य धर्म की विजय है। खर और दूषण की मृत्यु का वर्णन करते हुए रघुकुल कहते हैं :-

" आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित
आर्य धर्म आश्वस्त हुआ। "1

माताएँ भी जप, तप, व्रत करती हैं। परिवार में निरन्तर सुख बने रहने के लिए तथा संतान की मंगल कामना के लिए वे धार्मिक अनुष्ठानों में रुचि लेती हैं :-

" किये कौन व्रत नहीं, कौन जप नहीं जपे हैं?
हम सब ने दिन-रात कौन तप नहीं तपे हैं? "2

अपने से " बड़ों का सम्मान " उनकी आज्ञा का पालन तथा पिता को परमाराध्य मानना आर्य संस्कृति का विशेष गुण है। राम पिता से कहते हैं :-

" तुम्हीं हो तात परमाराध्य मेरे। "3
x x x
" बड़ों की बात है अविचारणीय।
मुकुट- मणि- तुल्य शिरसा धारणीया। "4
x x x
उऋण होना कठिन है तात ऋण से। "5

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 203। वि० ; पृष्ठ - 328
2- वही, पृष्ठ - 61
3- वही, पृष्ठ - 61
4- वही, पृष्ठ - 65
5- वही, पृष्ठ - 65

पतिव्रता नारी पर पुरुष (दुर्जन) से बात करने में भी पतिव्रत धर्म का ह्रास मानती है। सीता भी रावण से बात करना अनुचित समझती है :-

" भावन करने में भी तुझसे लग न जाय हा। मुझको पाप,
छू कर सकेगी में इस तनु को अग्नि-ताप में अपने आप। "1

पुरुषार्थी लक्ष्मण परिस्थिति को भाग्य मानकर विवश नहीं रहना चाहते। राम उन्हें समझाते हैं कि :-

" समझलो दैव की इच्छा यही है।
करे जो कुछ कि वह होता वही है। "2

किन्तु लक्ष्मण स्पष्ट कहते हैं :-

" भले ही दैव का बल दैव जाने
पुरुष जो है न क्यों पुरुषार्थ माने। "3

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2031 वि० ; पृष्ठ - 343

2- वही, पृष्ठ - 65

3- वही, पृष्ठ - 66

भारतीय नारी घर की शोभा मानी जाती है। वह लक्ष्मी एवं शक्ति दोनों ही है। नारी को युद्ध स्थल जाना पड़ जाए इसे वीर पुरुष अपना अपमान मानते हैं। उर्मिला को रणक्षेत्र में जाते देखकर वीर उन्हें रोकते हुए कहते हैं :-

" क्या हम सब मर गए हाय! जो तुम जाती हो,
या हमको तुम आज दीन-दुर्बल पाती हो? "।

भारतीय संस्कृति के अनुसार आर्य अपने स्वत्वों के लिए लड़ना अपना धर्म समझते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं :-

" राज्य के नहीं, धर्म के अर्थ
उठेंगे तब ये शस्त्र समर्थ। "2

x x x

" अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है। "3

समाज के दुष्ट लोगों का चित्रण कवि ने कौरवों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। कौरव यद्यपि पाण्डवों के भाई थे तथापि एक समय जब पाण्डव वन-वास भोग रहे थे, तब सुयोधन अपने राजकीय वैभव के साथ " जले पर नमक छिड़कने " के उद्देश्य से पिता के समक्ष मृगया का बहाना बनाकर वन-यात्रा करता है :-

" दिखाकर अपना वैभव-वेश,
जलाने को उनका हृद्देश
सुयोधन ने तज लज्जा-लेश,
किया वन में जिस समय प्रवेश। "4

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2031 वि० ; पृष्ठ - 378
2- मैथिलीशरणगुप्त - वन-वैभव ; 2005 वि० ; पृष्ठ - 18
3- मैथिलीशरणगुप्त - जयद्रथ वध ; इकसठवाँ सं०, 2031 वि० ; पृष्ठ- 5
4- मैथिलीशरणगुप्त - वन-वैभव ; 2005 वि० ; पृष्ठ - 12

शकुन, अपशकुन की विचारणा तत्कालीन समाज में व्याप्त थी। कवि ने इसका निरूपण भी काव्य में यत्र तत्र किया है। विष्णुप्रिया वधू बनकर गृहप्रवेश कर रही है। घर की देहली पर ठोकर लगी। रक्त बह निकला। विष्णुप्रिया का हृदय आशंकित हो उठता है। वह इसे अपशकुन का प्रतीक मानती है।भावी-जीवन के सुख की कल्पना उसे भंग होती सी प्रतीत होती है। तभी तो वह कह उठती है :-

" त्याग पर तेरी नींव टिकी ;
देहांगे, क्या दो बूंद रक्त पर तू इस हाथ बिकी। "1

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत प्रत्येक जीव में ब्रह्म की कल्पना की गई है एवं इसीकारण जीव-हिंसा और जीव-नाश को यहाँ कोई स्थान न देकर पाप समझा गया है। साधना के द्वारा जीव ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। तत्वत: दोनों में कोई भेद नहीं है :-

" ठीक कहते हो, किन्तु विस्मय क्या इसमें?
जीव ही है ब्रह्म यह मानते हो तुम तो। "2

उन दिनों समाज में धर्म का अत्यधिक महत्व था। लोगों के हृदय में धर्म के प्रति आस्था और विश्वास पूर्ण रूपेण विद्यमान था। समाज में धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फैली हुई थीं। कवि ने विष्णुप्रिया नामक काव्य में "वैष्णव धर्म " का प्रतिपादन किया है। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के अनोखे भक्त थे, परन्तु उन्होंने राम और कृष्ण दोनों को महत्ता प्रदान की है। कवि ने स्वयं कहा है :-

" राम कृपा होती फिर दुर्लभ है क्या कहीं। " 3

1- मैथिलीशरणगुप्त - विष्णुप्रिया ; सप्तमावृत्ति, 2026 वि० ; पृ०- 20
2- वही, पृष्ठ - 30
3- वही, पृष्ठ - 18

देव सरिता होने के कारण गंगा के प्रति लोगों के हृदय में अगाध श्रद्धा है। धर्म के क्षेत्र में नारी एवं पुरुष दोनों को स्वतन्त्रता है। पूजा-पाठ करना, मंत्र, श्लोक जपना, आदि धार्मिक क्रियाओं के अंग हैं। पुरुष के अतिरिक्त नारी भी भक्ति मार्ग की अधिकारिणी थी। शचीमाता नित्यप्रति गंगा स्नान के लिए जाती हैं। गौरांगपत्नी विष्णुप्रिया भी महाप्रभु चैतन्य की मूर्ति बनाकर भक्ति में निमग्न हो जाती है :-

" मन्दिर बनाया निज गेह उस देवी ने।
धूम-धाम से ही हुई प्रतिमा की स्थापना।
x x x
मूर्त्ति के पास रहती थी वह वहुधा
बाहर निकलना भी छोड़ दिया उसने।
x x x
प्रतिदिन मंत्रश्लोक जपती थी जितने,
गिनती के उतने ही धान्य-कण लेती थी। "1

घर में पति पर पत्नी का पूर्ण अधिकार है। पत्नी की राय के बिना कोई कार्य करना पति के लिए स्वाभाविक नहीं, गौरांग माता से अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् विष्णुप्रिया से पूछते हैं :-

" माँ ने दी प्रिये, दो मुझे आज्ञा अब तुम भी। "2

कवि ने प्रत्येक स्थान पर पात्रों को मर्यादा में रखकर भारतीय संस्कृति के उज्ज्वलरूप : : की ओर संकेत किया है।

समाज में पुत्र पर अपने पितरों का पिण्डदान करने का उत्तरादायित्व है। कवि ने गौरांग के हाथों इस कार्य को पूर्ण करवा के इस नियम का पूरा

1- मैथिलीशरणगुप्त - विष्णुप्रिया ; सप्तमावृत्ति, 2026 ; पृष्ठ - 135

2- वही, पृष्ठ - 21

निर्वाह किया है--

" इष्ट मित्र और वन्धु बान्धवों के साथ में,
गौर गया धाम गए ऋण सा चुकाने को;"[1]

धर्म में मानवता को विशेष महत्ता प्रदान की जाती थी। धर्म मानव हृदय में करुणा का प्रसार करके लोगों के प्रति सहानुभूति के भाव को संचारित करता था । चैतन्य महाप्रभु ने जाति-धर्म की संकुचित मान्यताओं को तोड़कर भावना को प्रधान बताया है। गुप्तजी के अनुसार मनुष्य गृहस्थ रहकर भी धर्म के माध्यम से ईश्वर-प्राप्ति कर सकता है।

धर्म के अन्तर्गत हिंसा का कोई स्थान नहीं था। "अहिंसा परमोधर्मः" का पालन होता था। अहिंसा के द्वारा ही मानव-जीवन का कल्याण संभव है। मनुष्य को मात्र मनुष्य के प्रति ही अहिंसा का भाव नहीं रखना चाहिए प्रत्युत उसे तो जीवमात्र के लिए भी अहिंसक ही रहना चाहिए। कवि ने इसी भाव से प्रेरित होकर हिंसा का बहिष्कार किया है तथा सामान्य जीव को भी महत्व दिया है। "विष्णुप्रिया" नामक काव्य से एक स्थान पर इसका सुन्दर उदाहरण मिलता है:-

दीख पड़ा एक जन कोढ़ी वहाँ उनको,
नीचे गिरे कीड़े जो उठा के निज घावों के
उनको उन्हीं में रख कहता था उनसे-
"भाई, तुम नीचे गिर जाओगे बताओ क्या?
दबकर पैरों से किसी के मर जाओगे।"[2]

हिन्दूधर्म के प्रति गुप्तजी की गहरी आस्था है। देश में विभिन्न प्रकार के वाह्याडम्बर फैले हुए थे। शैव वैष्णव से झगड़ते रहे। सगुणवादी निर्गुणवादियों से। पण्डावर्ग स्वर्ग का ठेका लिए फिरता है तथा ब्राह्मण वर्ग को अपनी मर्यादा

1- मैथिलीशरणगुप्त - विष्णुप्रिया ; सप्तमावृत्ति ; 2026 वि ; पृ0-22
2- वही पृष्ठ - 100

का ध्यान नहीं रहा है। गुप्तजी का कहना है कि ऐसी परिस्थिति में हिन्दू धर्म सच्चा प्रकाश दे सकता है:-

" विख्यात हिन्दूधर्म ही सच्चा सनातन धर्म है,
वह धर्म ही धारण क्रिया का नित्य कर्त्ता कर्म है।"1

"रंग में भंग" में कवि ने अपने इष्ट देव राम का स्तवन करते हुए कहा है :-

" लोक-शिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया
राम नाम ललाम जिसका सर्व-मंगल-धाम है
प्रथम उस लक्ष्मेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है।"2

गुप्तजी ने अपने अन्तर्मन से प्रेरित होकर ईश्वर की उपासना की है:-

" राम, तुम्हारे इसी धाम में,
नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ ;
इसी देश में हमें जन्म दो,
लो, प्रणाम हे वीर नीरजानाभ।
धन्य हमारा भूमि-भार भी
जिससे तुम अवतार धरो।
भक्ति युद्ध माँगे क्या तुमसे
हमें भक्ति दो ओ अमिताभ।"3

1- मैथिलीशरण गुप्त-भारत-भारती; ऐतिहासिक सं० ; 2023 वि० ; पृष्ठ - 133
2- मैथिलीशरण गुप्त - रंग में भंग ; 2026 वि० ; पृष्ठ - 3
3- मैथिलीशरण गुप्त - यशोधरा ; 2028 वि० ; पृष्ठ - 13

गुप्तजी का हिन्दू शब्द साम्प्रदायिक नहीं है। उनका हिन्दू शब्द समस्त भारतीय आर्य जातियों का प्रतीक है। [illegible] समस्त आर्यजाति के लिए उनका कहना है :-

" होकर ऋषियों की संतान
सहते हो तुम क्यों अपमान?
अपने को भूले हो आप,
पाते हो सौ-सौ संताप।"[1]

लोकोपकार की भावना से प्रभावित होकर गुप्तजी कहते हैं:-

" करके पहले आत्मसुधार
करलो भारत का उद्धार
फिर लोकोपकार में लीन
विचरो सभी कहीं स्वाधीन।"[2]

कवि सभी धर्मों का आदर करने वाले हैं। सभी धर्म के लोग अभिन्न हैं। मुसलमानों के प्रति उनका कहना है:-

" करो पूर्व संस्कृति की याद
मिटे तभी विद्वेष-विषाद
तुम अभिन्न हो, न हो विभिन्न
रहो न हम अपनों से खिन्न।"[3]

1- मैथिलीशरण गुप्त - हिन्दू ; पंचमावृत्ति ; 2027 वि० ; पृष्ठ - 20
2- वही, पृष्ठ - 280
3- वही, पृष्ठ - 258

धर्म के क्षेत्र में गुप्तजी का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक एवं उदार है। तुलसी की भाँति उन्होंने सभी के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है, कृष्ण में भी वे राम का सा देवत्व स्वीकार करते हैं। राम के सच्चे भक्त होते हुए भी गुप्त जी ने कृष्ण की उपेक्षा नहीं की है। उन्होंने बुद्ध अवतारों तथा सिक्ख गुरुओं का यशगान किया है "ईश्वर एक है" इस बात की ओर संकेत करते हुए इस्लाम धर्म सम्बन्धी काबा और कर्बला नामक काव्य में उन्होंने लिखा है:-

" पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्खिन
सभी ओर वह ईश एक

समदर्शी सर्वज्ञ हमारा,
राज-राज राजाधिराज,
अपनी-अपनी भाषाओं में
पढ़ सकते हैं हम नमाज।"[1]

धर्म के क्षेत्र में उच्छृंखलता गुप्तजी को सह्य नहीं। गुप्तजी चाहतेहैं कि प्रत्येक वर्ग अपने-अपने धर्म के प्रति जागरूक हों, साधु सन्त को वाह्याडम्बर से अलग रहकर वास्तविक सिद्ध होना चाहिए, तीर्थ गुरुओं को पहले आत्मसुधार करना चाहिए तत्पश्चात् समाज-सुधार की ओर ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार उनके सभी काव्य तत्कालीन धार्मिक भावनाओं के प्रभावों से ओत-प्रोत हैं।

धर्म के क्षेत्र में गुप्तजी का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। उन्होंने तुलसी की भाँति राम के अतिरिक्त द्वापर आदि लिखकर कृष्ण के प्रति आस्था दिखाई है। राम के वे अनन्य भक्त हैं इसको द्वापर के मंगलाचरण में उन्होंने स्वीकार किया है परन्तु "उनके मन में राम के जिस लोक-मंगल रूप की छाप पड़ चुकी है, वही उन्होंने कृष्ण और अन्य चरित्र नायकों के रूप में देखी।"[2]

1- मैथिलीशरणगुप्त - कुबा और कर्बला ; पंचमसंस्करण ; 2026 वि0;पृ0-
2- बरजा- राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त - अभिनन्दन ग्रन्थ ; पृ0-545) -34

"द्वापर का मंगलाचरण इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है:-

" धनुबाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग।"1

सामयिक धार्मिक प्रभावों से प्रभावित होने के कारण गुप्तजी ईश्वर को साकार और निराकर दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं -- "जयद्रथवध" में युधिष्ठिर ने कृष्ण के रूप में साक्षात् ईश्वर की वन्दना की है:-

" हो निर्विकार तथापि तुम हो भक्त वत्सल सर्वदा,
हो तुम निरीह तथापि अद्भुत सृष्टि रचते हो सदा,
आकारहीन तदापि तुम साकार सतत सिद्ध हो,
सर्वेश होकर भी सदा तुम प्रेम-वश्य प्रसिद्ध हो,
पाकर तुम्हें फिर और कुछ पाना न रहता शेष है
पाता न जब तक जीव तुमको भटकता सविशेष है।"2

समाज के उन्नयन के लिए सभी धर्मों के प्रति उनकी दृष्टि गई है। सभी धर्मों एवं वर्णों के समन्वय पर वे विश्वास रखते हैं। गुप्त जी का कहना है:-

" ब्राह्मण बढ़ावे बोध को,
क्षत्रिय बढ़ावे शक्ति को,
सब वैश्य निज वाणिज्य को
त्यों शूद्र भी अनुरक्ति को

" यों एक मन होकर सभी कर्त्तव्य के पालक बनें
तो क्यों न कीर्ति वितान धारों और भारत के तनें।"3

1- मैथिलीशरणगुप्त - द्वापर ; 2027 वि० ; पृष्ठ - 11
2- मैथिलीशरणगुप्त - जयद्रथवध ; इक्सठवाँ संस्करण ; 2031 वि० ; पृष्ठ - 92-93
3- मैथिलीशरणगुप्त - भारतभारती ; संस्करण - 1983 ; पृष्ठ - 153

आलोच्यकाल में सामाजिक संस्थाओं ने मनुष्यों को सेवा भाव से पूर्ण तथा परोपकारी होने की बात कही थी। " वक्संहार " में इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है :-

" जन एक देता प्राण है,
होता सभी का त्राण है।
सबके लिए निज नाश करना भी-भला।
फिर किस तरह मैं भागता?
निज जन्म भू को त्यागता?
दस भाइयों के साथ मरना भी भला।"[1]

नर-नारी दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं और दोनों का कार्य बिना एक दूसरे के सहयोग के नहीं चल सकता है, गुप्तजी का यह प्रभाव यशोधरा में द्रष्टव्य है। यशोधरा के कहने पर कि यदि मोक्ष ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है तो फिर हम नारियों को उससे पृथक क्यों रखा जाता है और क्या पति-पत्नी साथ-साथ मुक्ति साधना नहीं कर सकते? यशोधरा कहती हैं :-

" जाओ नाथ अमृत लाओ तुम, मुझ में मेरा पानी,
वैरी ही में बहुत बहुत-तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक देखूँ बस हे रानी,
कहीं तुम्हारी गुण गाथा में मेरी करुण कहानी।"[2]

मध्ययुग तक आते आते क्षत्रियत्व के प्रभाव से तथा वाम-मार्ग के प्रभाव से कर्मकाण्ड शिथिल हो गया था। यज्ञ में पशु का बलि दिया जाना साधारण बात मानी जाती थी। " साकेत " में कवि ने यज्ञ में बलि देने का विरोध किया है। बलि देना विकृति ही थी अत: कवि ने इसका खण्डन करना उचित समझा। मेघनाद निकुम्भला में पशु-बलि देकर यज्ञ कर रहा था- पशु बलिदेकर बली शस्त्र पूजन करता था। लक्ष्मण ने क्रोधित होकर मेघनाद से कहा :-

---

1- मैथिलीशरणगुप्त - वक-संहार ; 2021 वि० ; पृष्ठ - 25
2- मैथिलीशरणगुप्त - यशोधरा ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 54

" कौन धर्म यह शत्रु खड़े हुंकार रहे हैं।
तेरे आयुध यहाँ दीन-पशु मार रहे हैं।
" करता हूँ मैं वैरि-विजय का ही यह साधन"
" तब है तेरा कपट-मात्र यह देवाराधन।"[1]

अनिष्ट को दूर करने के लिए या उससे रक्षा पाने के लिए जप, पूजा दान, आदि की प्रथा प्रचलित है। उर्मिला का भी यही विश्वास है।वह कहती है :-

" तू ने जो कुछ दुरदृष्ट, किया,
आभास स्वप्न में भी न दिया।
कुछ शमन-यत्न करते हम भी
है योग साध्य दुर्दम यम भी।"[2]

सत्य को सभी धर्मों का सार कहा गया है एवं इसी साथ संसार को स्थिर बताया गया है। कवि वे राजा दशरथके मुख से इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहते है :-

" सत्य से ही स्थिर संसार
सत्य ही सब धर्मों का सार,
राज्य ही नहीं प्राण- परिवार,
सत्य पर सकता हूँ सब वार।"[3]

धर्म और भक्ति के क्षेत्र में गुप्तजी का मानस सामयिक परिवर्तनों से प्रभावित हुआ। उन्होंने अपने इष्टदेव राम के प्रति भक्ति कालीन कवियों की सी आस्था प्रकट नहीं की, आधुनिक युग से प्रभावित होने के कारण ही राम

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 484
2- वही, पृष्ठ - 165
3- वही, पृष्ठ - 64

को ब्रह्मा के रूप में स्वीकार करते हुए भी गुप्तजी ने उनके व्यक्तित्व का प्रतिपादन मानव-व्यक्तित्व के रूप में ही अधिक किया है:-

" आप अवतीर्ण हुए दुख देख जन के,
भ्रातृ हेतु राज्य छोड़ वासी बने वन के,
राक्षसों को मार भार मेटा धराधाम का
बढ़े धर्म, दयादान युद्धवीर राम का।"1

गुप्तजी राम के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हैं, अतः प्रायः सभी काव्यों में मंगलाचरण के रूप में गुप्तजी की आस्तिकता तथा धार्मिक भावना परिलक्षित होती है:-

" मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।
हो भद्र भावोद्भाविनी यह भारती है भगवते,
सीता पते सीतापते। गीताभते, गीतामते।"2

"यशोधरा में पुरुष द्वारा "सिद्धिमार्ग की बाधा" मानी जाने पर नारी ने जो क्षोभ प्रकट किया, उसमें भी तत्कालीन नारी के आधुनिक विचार द्रष्टव्य हैं:-

" सिद्धि मार्ग की बाधा नारी।
फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे विरति है।
अहं विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी कुछ मति है।

1- मैथिलीशरणगुप्त - सिद्धराज ; चौतीसवाँ संस्करण ; 2031 वि० ; पृष्ठ - 5

2- मैथिलीशरणगुप्त - भारत भारती ; पृष्ठ - 9

" मैं भी नहीं अनाथ जगत में मेरा भी प्रभुपति है।
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भय-भार। "1

" विधवाओं " के विषय में पुनर्विवाह को गुप्तजी दुराचार व्यभिचार से कहीं अच्छा मानते हैं, तभी तो " हिन्दू " कृति में उनका कहना है :-

" विधवाओं का पुनर्विवाह,
नहीं उच्च आदर्श-निवाह।
पर उससे अच्छा सौ बार,
जो है दुराचार, व्यभिचार। "2

समाज में विधवाओं पर हमेशा अत्याचार होते आए हैं। ऐसे ही कामी पुरुष को फटकारती हुई उससे अपने को बचाती हुई " काबा और कर्बला " में गुप्तजी की नारी सिंहीसा रूप धरकर कहती है :-

" नर न सही, नारी तो हूँ मैं, शव तो नहीं शृगाल। "3

गांधीवाद का गुप्तजी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गांधी दर्शन के अनुसार " आज हमारे सामने सिर्फ इतना ही प्रश्न नहीं है कि शूद्र अथवा अतिशूद्र में से योग्य व्यक्ति को गुण और कर्म के अनुसार द्विजत्व प्राप्त हो

1- - मैथिलीशरणगुप्त - द्वापर ; 2027 वि ; पृष्ठ -

2- मैथिलीशरणगुप्त - हिन्दू पंचमावृत्ति ; 2027 वि० ; पृष्ठ - 78

3- मैथिलीशरणगुप्त - काबा और कर्बला ; पंचमासंस्करण ; 2026 वि० ; पृष्ठ - 55

अथवा वह वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण बन सके, बल्कि आज तो समाज के वर्ग भेद को ही नष्ट करके एक वर्ग का समाज स्थापित करने की आवश्यकता मालूम होने लगी है।"[1]

"राजा प्रजा" में गुप्तजी कहते हैं:-

" सबका जीवन स्वस्थ हो सके सो करना है।
अभय समन्वय भाव भुवन-भर में भरना है।"[2]

गाँधीवादी होने के कारण गुप्तजी हिंसा के पूर्ण विरोधी हैं, प्राचीन हिंसापूर्ण यज्ञों के वे निर्यत्रक हैं। अतः उन्होंने हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करके अन्नकूट की स्थापना की है और कहा है कि दूध, घी तथा शर्करा का अर्पण ही देवताओं के लिए पर्याप्त है-- क्योंकि वे श्रद्धा के भूखे होते हैं -- व्यंजनों के नहीं। स्वयं धार्मिक प्रवृत्ति के होने के कारण साकेत कार ने अपनी समस्त कृतियों में धर्म का यत्र तत्र वर्णन किया है। उन्होंने उस विराट सत्ता को सगुण रूप में देखा है। साकेत के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा है--

"हो गया निर्गुण सगुण-साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।"[3]

कवि प्रश्न करता है कि यह निराकार ब्रह्म संसार में साकार होकर क्यों जन्म ग्रहण करता है, उसे संसार में आने की क्या आवश्यकता है? कवि स्वयं उत्तर देकर इस बात का स्पष्टीकरण कर देता है कि ईश्वर भक्त वत्सल है अतः वह संसार का पथ प्रदर्शन करने के लिए, पापियों के भार से उसे मुक्ति दिलाने के लिए, अपने दर्शनों से भक्त-जन के नेत्र को सफल करने के लिए प्रभु इस संसार में जन्म लेकर मानव सदृश लीलाएँ करता है:-

---

1- आचार्य जावड़ेकर - आज का भारत ; पृष्ठ - 384
2- मैथिलीशरणगुप्त - राजाप्रजा-; प्रथमावृत्ति ; 2013 वि० ; पृष्ठ - 41
3- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 18

"पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू - भार को,
सफल करने के लिए जन-दृष्टियाँ,
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियाँ?"1

विराट सत्ता के जन्म ग्रहण का कारण इस संसार में ... क्या है? इस उत्तर में धर्मग्रन्थों में भी यही कहा गया है- कि --

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।"2

अर्थात् जब-जब संसार में धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब वह अपने रूप को रचता है एवं इस लौकिक संसार में किसी न किसी प्रकार जन्म ग्रहण करता है। इस संसार में अवतार ग्रहण कर वह सज्जनों की रक्षा करता है, दुष्टों का संहार करता है तथा धर्म की स्थापना करता है। जिस भूमि पर वह विराट अवतार के रूप में जन्म ग्रहण करता है उस भूमि के प्रति भक्तजनों के हृदय में अटूट विश्वास एवं श्रद्धा का भाव उमड़ पड़ता है। उस भूमि को वह तीर्थस्थान के रूप में पूज्य समझता है एवं वह भूमि भगवद्भूमि के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। भारत में प्रभु ने दुष्टों के संहार हेतु कई बार अवतार रूप ग्रहण किया है। इस लौकिक संसार में आकर उन्होंने मानवीय लीलाएँ की हैं, गुप्तजी ने इस भूमि के गौरव का गान करते हुए कहा है---

"धन्य भगवद्भूमि - भारत वर्ष है।"3

1- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 18
2- श्रीमद्भगवद्गीता - 4/7-8
3- मैथिलीशरणगुप्त - साकेत ; 2025 वि० ; पृष्ठ - 19

गुप्तजी ने धर्म-सहिष्णुता पर तथा धार्मिक समन्वय पर भी यथेष्ट लिखा है। मजहबी कट्टता का उन्होंने सर्वत्र विरोध किया है। स्वयं वैष्णव होकर भी उन्होंने बौद्ध-धर्म की उच्चता का गान "यशोधरा" में तथा इस्लाम की खूबियों का आख्यान "काबा और कर्बला" में किया है। इस दृष्टि से वे भारतीय राष्ट्रीयता के साथ धर्म के समन्वय के समर्थकों में अन्यतम हैं।